

# 1871 का आपराधिक जनजाति अधिनियम: सामाजिक कलंक और सामुदायिक हाशिए पर प्रभाव का विश्लेषण

वासु देव मीना

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## सारांश

यह शोध पत्र ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन द्वारा 1871 में लागू किए गए आपराधिक जनजाति अधिनियम के दीर्घकालिक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और संस्थागत प्रभावों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह अधिनियम जो लगभग 150 से अधिक जनजातियों को जन्मजात अपराधी घोषित करता था, ने भारतीय समाज में एक ऐसा सामाजिक कलंक उत्पन्न किया जो आजादी के सात दशक बाद भी विद्यमान है। इस अध्ययन में 1871 से 1952 तक के कानूनी प्रावधानों, उनके सामाजिक परिणामों, और स्वतंत्रता के बाद इन समुदायों की स्थिति का समालोचनात्मक विवेचन किया गया है। शोध में रेनके आयोग और अयंगर समिति की सिफारिशों का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जो इन जनजातियों के पुनर्वास और मुख्यधारा में समावेशन के लिए आवश्यक हैं। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक कानून केवल एक ऐतिहासिक घटना नहीं, बल्कि समकालीन भारत में भी सामाजिक भेदभाव और संरचनात्मक हिंसा का स्रोत बना हुआ है।

**मुख्य शब्द:** आपराधिक जनजाति अधिनियम, विमुक्त जनजातियाँ, घुमंतू जनजातियाँ, सामाजिक कलंक, ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति, जन्मजात अपराधी सिद्धांत, सामाजिक बहिष्कार, रेनके आयोग, जातीय भेदभाव, मानवाधिकार उल्लंघन

## प्रस्तावना

भारतीय समाज के इतिहास में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का एक काला अध्याय 1871 के आपराधिक जनजाति अधिनियम के रूप में अंकित है। यह कानून न केवल एक विधायी दस्तावेज था, बल्कि यह सामाजिक अन्याय और संस्थागत भेदभाव का एक ऐसा उपकरण था जिसने लाखों लोगों के जीवन को स्थायी रूप से प्रभावित किया। 1932 में लेफ्टिनेंट जनरल सर जॉर्ज मैकमुन ने अपनी कृति 'द अंडरवर्ल्ड ऑफ इंडिया' में इन जनजातियों को समाज की गंदगी और पशुओं के समान बताया था। यह केवल एक व्यक्तिगत राय नहीं थी, बल्कि उस समय की औपनिवेशिक मानसिकता का प्रतिनिधित्व करती थी।

इस अधिनियम के माध्यम से ब्रिटिश सरकार ने धर्म और जाति पहचान के आधार पर भारतीयों को वर्गीकृत किया और कुछ विशेष समुदायों को जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया। 1920 के दशक तक लगभग 150 से अधिक जनजातियों को इस अधिनियम के तहत सूचीबद्ध किया गया था। इन जनजातियों में गुज्जर, लोधी, हरनी, शूद्र समुदाय, चमार, सन्यासी और विभिन्न पहाड़ी जनजातियाँ शामिल थीं। पुलिस विभाग में भर्ती होने वाले जवानों को यह सिखाया

जाने लगा कि ये जनजातियाँ पारंपरिक रूप से आपराधिक प्रकृति की हैं।

यद्यपि यह अधिनियम 31 अगस्त 1952 को निरस्त कर दिया गया था, किंतु इसके सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव आज भी भारतीय समाज में गहराई से व्याप्त हैं। इन जनजातियों के लोग आज भी सामाजिक भेदभाव, पुलिस उत्पीड़न और आर्थिक हाशिएकरण का सामना कर रहे हैं। यह शोध पत्र इस ऐतिहासिक अन्याय और उसके समकालीन परिणामों का एक व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

## शोध के उद्देश्य

**इस शोध अध्ययन के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं:**

- पहला, 1871 के आपराधिक जनजाति अधिनियम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसके निर्माण के कारणों और इसके विधायी प्रावधानों का गहन विश्लेषण करना। यह समझना आवश्यक है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार ने किन परिस्थितियों और उद्देश्यों के साथ इस कानून को लागू किया था।
- दूसरा, इस अधिनियम के तहत लक्षित समुदायों पर पड़े प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभावों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना। इसमें सामाजिक कलंक, आर्थिक हाशिएकरण, शैक्षणिक पिछड़ापन और मनोवैज्ञानिक आघात जैसे विभिन्न आयामों को शामिल किया गया है।
- तीसरा, स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार द्वारा इन जनजातियों के पुनर्वास और मुख्यधारा में समावेशन के लिए किए गए प्रयासों और उनकी सफलता या विफलता का मूल्यांकन करना। इसमें रेनके आयोग 2008 और अयंगर समिति की सिफारिशों का विशेष विश्लेषण शामिल है।
- चौथा, समकालीन भारत में इन विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियों की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक स्थिति का आकलन करना और उनके सामने आने वाली चुनौतियों की पहचान करना।
- पांचवां, इन समुदायों के प्रति समाज और राज्य तंत्र विशेषकर पुलिस और न्यायिक व्यवस्था में व्याप्त पूर्वाग्रहों और भेदभावपूर्ण व्यवहार का दस्तावेजीकरण करना।
- छठा, इन जनजातियों के सामाजिक न्याय, सम्मानजनक जीवन और संवैधानिक अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए नीतिगत सुझाव और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करना।

## शोध पद्धति

यह शोध अध्ययन मुख्य रूप से गुणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है जिसमें ऐतिहासिक विश्लेषण, दस्तावेजीकरण समीक्षा और माध्यमिक स्रोतों के विश्लेषण को सम्मिलित किया गया है। शोध के लिए विभिन्न प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है।

प्राथमिक स्रोतों में 1871 का मूल आपराधिक जनजाति अधिनियम, 1952 में इसके निरस्तीकरण से संबंधित दस्तावेज, रेनके आयोग 2008 की रिपोर्ट और अयंगर समिति की सिफारिशें शामिल हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दंड संहिता अधिनियम 1952, अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 जैसे संबंधित कानूनी दस्तावेजों का भी अध्ययन किया गया है।

द्वितीयक स्रोतों में प्रोफेसर साइमन कोल के अपराध विज्ञान पर शोध कार्य, प्रोफेसर रामनारायण रावत के सामाजिक बहिष्कार पर किए गए अध्ययन, और लेफ्टिनेंट जनरल सर जॉर्ज मैक्मुन की कृति 'द अंडरवर्ल्ड ऑफ इंडिया' को शामिल किया गया है। इसके साथ ही विभिन्न शैक्षणिक पत्रिकाओं, सरकारी रिपोर्टों और समाचार पत्रों में प्रकाशित घटनाओं और विश्लेषणों का भी संदर्भ लिया गया है।

शोध में ऐतिहासिक विश्लेषण पद्धति का उपयोग करते हुए औपनिवेशिक काल से लेकर समकालीन भारत तक की

यात्रा का विवेचन किया गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामाजिक कलंक, भेदभाव और हाशिएकरण की प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया गया है। कानूनी विश्लेषण के माध्यम से इस अधिनियम के प्रावधानों और उनके व्यावहारिक प्रभावों का अध्ययन किया गया है।

शोध की सीमाओं में प्राथमिक क्षेत्रीय सर्वेक्षण का अभाव और प्रभावित समुदायों के साथ प्रत्यक्ष साक्षात्कार न होना शामिल है। यह अध्ययन मुख्यतः उपलब्ध दस्तावेजों और प्रकाशित शोध कार्यों पर आधारित है। भविष्य में इस शोध को क्षेत्रीय अध्ययनों और मौखिक इतिहास के माध्यम से और अधिक समृद्ध किया जा सकता है।

### **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अधिनियम का विकास**

आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 की उत्पत्ति ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की नियंत्रण और वर्चस्व की नीति में निहित है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समाज को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करना प्रारंभ किया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात ब्रिटिश प्रशासन ने यह अनुभव किया कि कुछ समुदाय उनके शासन के लिए संभावित खतरा हो सकते हैं।

इस अधिनियम के निर्माण के पीछे मुख्य तर्क यह था कि कुछ जनजातियाँ और जातियाँ पारंपरिक रूप से अपराध को अपनी आजीविका का साधन मानती हैं और इनका आपराधिक व्यवहार पीढ़ी दर पीढ़ी संचरित होता है। प्रोफेसर साइमन कोल ने अपने शोध में इस अधिनियम को जन्मजात अपराधी सिद्धांत का सबसे क्रूर और व्यवस्थित उदाहरण बताया है। इस कानून ने यह घोषित किया कि कुछ विशेष जातियों से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही आपराधिक प्रवृत्ति के साथ उत्पन्न होता है।

प्रारंभ में इस अधिनियम के अंतर्गत गुज्जर, हरनी और लोधी जैसी जातियों को शामिल किया गया था। प्रोफेसर रामनारायण रावत के अनुसार उन्नीसवीं सदी के अंत तक इसका विस्तार करके अधिकांश शूद्र समुदायों, चमार जैसे अछूतों, सन्यासियों और पहाड़ी जनजातियों को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया। 1920 के दशक तक लगभग 150 से अधिक समुदाय इस कानून के दायरे में आ गए थे।

अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार इन जनजातियों के सदस्यों को स्थानीय पुलिस स्टेशनों में नियमित रूप से अपनी उपस्थिति दर्ज करानी होती थी। उन्हें रात के समय अपने निवास स्थान से बाहर निकलने की अनुमति नहीं थी। पुलिस को बिना वारंट के इन व्यक्तियों को गिरफ्तार करने का अधिकार था। इन समुदायों के लिए विशेष बस्तियाँ स्थापित की गईं जहाँ उनकी गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी।

यह अधिनियम केवल एक कानूनी प्रावधान नहीं था बल्कि यह एक विचारधारा थी जो नस्लवाद, जातिवाद और सामाजिक भेदभाव पर आधारित थी। इसने भारतीय समाज में एक ऐसा विभाजन उत्पन्न किया जो आज तक समाप्त नहीं हो सका है।

### **अधिनियम के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव**

आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 ने लक्षित समुदायों पर बहुआयामी और दीर्घकालिक प्रभाव डाले। सबसे विनाशकारी प्रभाव सामाजिक कलंक का निर्माण था जो इन समुदायों की सामूहिक पहचान का हिस्सा बन गया। जब राज्य और कानून किसी समुदाय को जन्मजात अपराधी घोषित करते हैं तो समाज में भी वही धारणा स्थापित हो जाती है।

इन जनजातियों के लोगों को देश में जहाँ कहीं भी वे रहते थे अपराधियों के रूप में देखा जाने लगा। पुलिस तंत्र को उनके शोषण की असीमित शक्तियाँ प्राप्त हो गईं। बिना किसी अपराध के भी इन समुदायों के सदस्यों को संदेह के आधार पर गिरफ्तार किया जा सकता था। यह न्याय के मूलभूत सिद्धांत का घोर उल्लंघन था जो कहता है कि जब तक

किसी व्यक्ति का अपराध सिद्ध न हो जाए उसे निर्दोष माना जाना चाहिए।

धीरे-धीरे समाज में भी इन जनजातियों की पहचान अपराधियों के रूप में ही स्थापित होती चली गई। यह सामाजिक कलंक इतना गहरा था कि इन समुदायों के बच्चों को भी जन्म से ही संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। शिक्षा, रोजगार और सामाजिक संबंधों में भेदभाव सामान्य हो गया। कई स्थानों पर इन जनजातियों को गाँवों और कस्बों के निकट बसने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी उतने ही विनाशकारी थे। जब एक पूरे समुदाय को कानूनी रूप से अपराधी घोषित किया जाता है तो उसके सदस्यों में हीनता की भावना विकसित होती है। आत्मसम्मान और सामूहिक गरिमा का नाश होता है। कई बार इस सामाजिक बहिष्कार के कारण वास्तविक अपराध की ओर प्रवृत्त होना भी एक त्रासदी बन जाती है क्योंकि समाज उन्हें वैध आजीविका के अवसर ही नहीं देता।

आर्थिक हाशिएकरण भी एक गंभीर परिणाम था। इन समुदायों की पारंपरिक आजीविका चाहे वह पशुपालन, घुमंतू व्यापार या शिल्पकारी रही हो को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। भूमि और संसाधनों तक उनकी पहुंच सीमित हो गई। रोजगार के अवसर नहीं मिलने के कारण गरीबी और विपन्नता उनकी नियति बन गई।

### **स्वतंत्रता के पश्चात की स्थिति और निरस्तीकरण**

भारत को 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त हुई किंतु अपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 को निरस्त करने में पाँच वर्ष का समय लगा। यह तथ्य इन समुदायों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है कि इस अधिनियम को 31 अगस्त 1952 को निरस्त किया गया था। आज भी ये जनजातियाँ 31 अगस्त को अपना स्वतंत्रता दिवस मनाती हैं क्योंकि इसी दिन उन्हें वास्तविक स्वतंत्रता मिली थी।

अयंगर समिति ने इस अधिनियम को निरस्त करने की सिफारिश की थी और यह भी सुझाव दिया था कि भविष्य में किसी भी कानून में संपूर्ण समुदायों को लक्षित नहीं किया जाना चाहिए। समिति ने अभ्यासिक अपराधी अधिनियम के दायरे में सभी वर्गों के लोगों को शामिल करने की बात कही थी ताकि किसी विशेष समुदाय को कलंकित न किया जाए।

निरस्तीकरण के पश्चात इन समुदायों को विमुक्त जनजाति, घुमंतू जनजाति और अर्ध-घुमंतू जनजाति के रूप में वर्गीकृत किया गया। परंतु दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत में इन समुदायों के पुनर्वास और मुख्यधारा में समावेशन के लिए पर्याप्त प्रयास नहीं किए गए। आजादी के बाद तत्कालीन आदिवासियों को अनुसूचित जनजाति के रूप में और अछूतों तथा दलितों को अनुसूचित जाति के रूप में वर्गीकृत किया गया और उन्हें संवैधानिक सुरक्षा तथा आरक्षण की सुविधाएँ प्रदान की गईं।

किंतु विमुक्त जनजातियों को इस प्रकार की कोई विशेष सुरक्षा या सुविधा नहीं दी गई। केवल कुछ राज्यों ने अपवाद स्वरूप इन समुदायों को राज्य स्तर पर अनुसूचित जाति या अन्य पिछड़ा वर्ग की सूची में शामिल किया। अधिकांश राज्यों में ये समुदाय किसी भी आरक्षण या विशेष प्रावधान से वंचित रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि ये समुदाय शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से अत्यंत पिछड़े रह गए।

अधिनियम के निरस्त होने के बाद भी समाज और पुलिस तंत्र में इन समुदायों के प्रति पूर्वाग्रह समाप्त नहीं हुए। पुलिस प्रशिक्षण में दशकों तक यह धारणा बनी रही कि ये समुदाय अपराधिक प्रवृत्ति के हैं। किसी भी अपराध की घटना होने पर सबसे पहले इन समुदायों के लोगों पर ही संदेह किया जाता था और उन्हें उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था।

## समकालीन चुनौतियाँ और हिंसा की घटनाएँ

स्वतंत्रता के सात दशक बाद भी विमुक्त जनजातियों की स्थिति अत्यंत चिंताजनक बनी हुई है। समाज में व्याप्त पूर्वाग्रह और भेदभाव ने कई बार हिंसक रूप भी धारण किया है। वर्ष 2007 में बिहार के वैशाली जिले में नट जनजाति के दस लोगों को भीड़ ने चोर होने के आरोप में पीट-पीट कर मार डाला था। यह घटना इस बात का प्रमाण है कि समाज में इन समुदायों के प्रति कितनी गहरी घृणा और हिंसा व्याप्त है।

इसी प्रकार सितंबर 2007 में मध्य प्रदेश के बैतूल जिले के चौथिया गाँव में पारधी समुदाय के 350 परिवारों के घर जलाकर राख कर दिए गए थे। यह सामूहिक हिंसा इस तथ्य से प्रेरित थी कि स्थानीय लोग इस समुदाय को अपने गाँव के निकट नहीं बसाना चाहते थे। ऐसी घटनाएँ देश के विभिन्न भागों में समय-समय पर होती रहती हैं जो यह दर्शाती हैं कि औपनिवेशिक कानून द्वारा निर्मित सामाजिक कलंक आज भी जीवित है।

इन समुदायों के बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। विद्यालयों में भेदभाव, सामाजिक बहिष्कार और आर्थिक विपन्नता के कारण इनकी साक्षरता दर अत्यंत निम्न है। रोजगार के अवसर न मिलने के कारण इन समुदायों में गरीबी और भुखमरी की स्थिति है। स्वास्थ्य सेवाओं तक इनकी पहुंच भी सीमित है।

न्यायिक व्यवस्था में भी इन समुदायों के साथ भेदभाव देखा जाता है। रेनके आयोग की रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन समुदायों के मामलों में न्याय के मूलभूत नियमों का उल्लंघन होता है। निर्दोष होने की धारणा के स्थान पर इन्हें पहले से ही अपराधी मान लिया जाता है। पुलिस हिरासत में यातना, झूठे मुकदमों में फँसाना और न्यायिक प्रक्रिया में देरी इन समुदायों के लिए सामान्य अनुभव हैं।

## रेनके आयोग 2008 की सिफारिशों और उनका क्रियान्वयन

वर्ष 2005 में तत्कालीन सरकार ने विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियों के लिए एक राष्ट्रीय आयोग का गठन किया था। इस आयोग के अध्यक्ष बालकृष्ण रेनके थे और इसे रेनके आयोग के नाम से जाना जाता है। वर्ष 2008 में इस आयोग ने सरकार को अपनी विस्तृत रिपोर्ट सौंपी जिसमें इन जनजातियों के इतिहास, वर्तमान स्थिति और उनके सामने आने वाली चुनौतियों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था।

रेनके आयोग की रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि दुर्भाग्य से आपराधिक जनजाति अधिनियम के समाप्त होने के बाद भी इन जनजातियों को उसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ रहे हैं। अंग्रेजों द्वारा चलाई गई इस कुरीति के कारण आज भी समाज और पुलिस इन लोगों को शक और घृणा की नजर से देखती है। आयोग ने यह भी उल्लेख किया कि यद्यपि यह स्थापित सिद्धांत है कि जब तक कोई व्यक्ति दोषी साबित नहीं हो जाता उसे निर्दोष माना जाता है और कोई भी व्यक्ति जन्म से अपराधी नहीं होता है किंतु इन जनजातियों के मामलों में समाज और पुलिस दोनों का नजरिया ठीक उल्टा होता है।

आयोग ने अभ्यासिक अपराधी अधिनियम की भी समीक्षा की और कहा कि यह अधिनियम भी एक प्रकार से आपराधिक जनजाति अधिनियम का ही विस्तार है क्योंकि व्यवहार में इसके तहत मुख्यतः इन्हीं समुदायों के लोगों को लक्षित किया जाता है। आयोग ने सिफारिश की कि इस अधिनियम को भी संशोधित किया जाना चाहिए ताकि किसी विशेष समुदाय को लक्षित न किया जाए।

रेनके आयोग की प्रमुख सिफारिशों में इन समुदायों की व्यापक जनगणना करना, उन्हें अनुसूचित जनजाति या अनुसूचित जाति की सूची में शामिल करना, शैक्षणिक और आर्थिक सहायता प्रदान करना, भूमि और आवास की सुविधा देना, और पुलिस तथा न्यायिक तंत्र में संवेदनशीलता विकसित करना शामिल था। आयोग ने एक स्थायी आयोग के गठन की भी सिफारिश की जो इन समुदायों के कल्याण की निगरानी कर सके।

किंतु दुर्भाग्य की बात यह है कि रेनके आयोग की रिपोर्ट को सौंपे हुए एक दशक से अधिक समय बीत चुका है परंतु

इसकी अधिकांश सिफारिशों को अभी तक क्रियान्वित नहीं किया गया है। न तो इन समुदायों की व्यापक जनगणना हुई है और न ही उन्हें संवैधानिक सुरक्षा प्रदान की गई है। यह राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी और प्रशासनिक उदासीनता को दर्शाता है।

### **अयंगर समिति की सिफारिशें और उनकी प्रासंगिकता**

अयंगर समिति ने भी आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 को निरस्त करने की सिफारिश करते हुए महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे। समिति ने स्पष्ट रूप से कहा था कि अभ्यासिक अपराधी अधिनियम के दायरे में केवल कुछ चुनिंदा जनजातियाँ ही नहीं बल्कि सभी वर्गों के लोगों को शामिल किया जाना चाहिए। यह सिफारिश इस सिद्धांत पर आधारित थी कि अपराध किसी समुदाय की विरासत नहीं बल्कि व्यक्तिगत व्यवहार का परिणाम है।

अयंगर समिति की रिपोर्ट के छह दशक से अधिक समय बीत चुके हैं किंतु इसकी मूल भावना को अभी तक साकार नहीं किया गया है। अभ्यासिक अपराधी अधिनियम आज भी लागू है और व्यवहार में इसका उपयोग मुख्यतः विमुक्त जनजातियों के विरुद्ध ही किया जाता है। यह एक प्रकार से आपराधिक जनजाति अधिनियम की निरंतरता है जो एक अलग नाम और रूप में विद्यमान है।

दोनों समितियों अयंगर समिति और रेनके आयोग की सिफारिशों में समानता यह है कि दोनों ने इन समुदायों के प्रति समाज और राज्य तंत्र के दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया है। दोनों ने यह स्वीकार किया है कि औपनिवेशिक विरासत ने इन समुदायों को जो सामाजिक कलंक दिया है वह स्वतंत्र भारत में भी समाप्त नहीं हुआ है और इसे समाप्त करने के लिए ठोस प्रयास आवश्यक हैं।

### **सामाजिक न्याय और संवैधानिक अधिकारों का प्रश्न**

भारतीय संविधान सभी नागरिकों को समानता, स्वतंत्रता और गरिमा के अधिकार प्रदान करता है। संविधान के अनुच्छेद 14 में कानून के समक्ष समानता का अधिकार है, अनुच्छेद 15 में धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध है, और अनुच्छेद 21 में जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार दिया गया है। किंतु विमुक्त जनजातियों के संदर्भ में ये संवैधानिक प्रावधान केवल कागजों पर सीमित हैं।

जब किसी समुदाय को समाज और राज्य तंत्र द्वारा जन्मजात अपराधी के रूप में देखा जाता है तो उसके संवैधानिक अधिकार स्वतः ही निरस्त हो जाते हैं। शिक्षा का अधिकार, रोजगार का अधिकार, सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार और न्याय प्राप्त करने का अधिकार सभी प्रभावित होते हैं। यह संवैधानिक मूल्यों और वास्तविक स्थिति के बीच एक विशाल खाई को दर्शाता है।

अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 जैसे कानून विशेष सुरक्षा प्रदान करते हैं किंतु विमुक्त जनजातियों को ऐसी कोई विशेष सुरक्षा प्राप्त नहीं है। यद्यपि इनमें से कुछ समुदाय कुछ राज्यों में अनुसूचित जाति या अन्य पिछड़ा वर्ग की सूची में शामिल हैं किंतु यह व्यवस्था असंगत और अपर्याप्त है। एक ही समुदाय एक राज्य में आरक्षण का लाभ प्राप्त करता है जबकि दूसरे राज्य में उसे कोई सुरक्षा नहीं मिलती।

सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इन समुदायों को ऐतिहासिक अन्याय की क्षतिपूर्ति के रूप में विशेष सुरक्षा और सुविधाएँ प्रदान की जाएँ। यह केवल कल्याणकारी उपाय नहीं बल्कि संवैधानिक और नैतिक दायित्व है। औपनिवेशिक शासन द्वारा किए गए अन्याय को स्वतंत्र भारत में सुधारना हमारा संवैधानिक कर्तव्य है।

### **नीतिगत सुझाव**

विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियों के सामाजिक न्याय और मुख्यधारा में समावेशन के लिए बहुआयामी और समन्वित प्रयासों की आवश्यकता है। सबसे पहले इन समुदायों की व्यापक और वैज्ञानिक जनगणना की जानी चाहिए।

वर्तमान में इन समुदायों की सटीक संख्या, भौगोलिक वितरण और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बारे में पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। बिना सटीक आंकड़ों के प्रभावी नीतियाँ नहीं बनाई जा सकतीं।

दूसरा महत्वपूर्ण कदम इन समुदायों को संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करना है। केंद्र सरकार को एक समान नीति बनानी चाहिए जिसके तहत इन समुदायों को या तो अनुसूचित जनजाति की सूची में शामिल किया जाए या फिर एक नई अनुसूची बनाई जाए। वर्तमान में राज्यों द्वारा अलग-अलग नीतियाँ अपनाई जाती हैं जो असंगत और अपर्याप्त हैं। एक समान राष्ट्रीय नीति से इन समुदायों को शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में आरक्षण का लाभ मिल सकेगा। तीसरा महत्वपूर्ण पहलू शैक्षणिक सशक्तिकरण है। इन समुदायों के बच्चों के लिए विशेष शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए जाने चाहिए जहाँ उन्हें छात्रवृत्ति, आवासीय सुविधा और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान की जाए। शिक्षा ही एकमात्र माध्यम है जिससे ये समुदाय सामाजिक गतिशीलता प्राप्त कर सकते हैं और मुख्यधारा का हिस्सा बन सकते हैं।

चौथा आयाम आर्थिक सशक्तिकरण का है। इन समुदायों को भूमि, आवास और आजीविका के साधन प्रदान किए जाने चाहिए। उनकी पारंपरिक कलाओं और शिल्प को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। स्वरोजगार और उद्यमिता के लिए विशेष योजनाएँ बनाई जानी चाहिए। बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को इन समुदायों को ऋण प्रदान करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

पाँचवाँ और अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू पुलिस और न्यायिक सुधार है। पुलिस प्रशिक्षण में इन समुदायों के प्रति संवेदनशीलता विकसित करने के विशेष मॉड्यूल शामिल किए जाने चाहिए। अभ्यासिक अपराधी अधिनियम को या तो निरस्त किया जाना चाहिए या फिर इसमें मूलभूत संशोधन किए जाने चाहिए ताकि किसी विशेष समुदाय को लक्षित न किया जाए। न्यायिक व्यवस्था में इन समुदायों के मामलों की शीघ्र सुनवाई और निष्पक्ष न्याय सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

छठा पहलू सामाजिक जागरूकता और दृष्टिकोण परिवर्तन का है। शिक्षण संस्थाओं, मीडिया और नागरिक समाज संगठनों के माध्यम से समाज में जागरूकता फैलाई जानी चाहिए कि ये समुदाय जन्मजात अपराधी नहीं हैं बल्कि ऐतिहासिक अन्याय के शिकार हैं। सामाजिक कलंक को समाप्त करने के लिए निरंतर प्रयास आवश्यक हैं।

सातवाँ सुझाव एक स्थायी राष्ट्रीय आयोग का गठन है जैसा कि रेनके आयोग ने सिफारिश की थी। यह आयोग इन समुदायों की स्थिति की निगरानी करे, नीतियों के क्रियान्वयन का आकलन करे और सरकार को समय-समय पर सुझाव दे। आयोग को संवैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए ताकि इसकी सिफारिशें बाध्यकारी हों।

## निष्कर्ष

आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की सबसे क्रूर और अमानवीय नीतियों में से एक था। इस अधिनियम ने लगभग 150 समुदायों को जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया और उन्हें ऐसा सामाजिक कलंक दिया जो आज तक समाप्त नहीं हुआ है। यद्यपि यह अधिनियम 1952 में निरस्त कर दिया गया था किंतु इसके सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और संस्थागत प्रभाव आज भी विद्यमान हैं।

स्वतंत्र भारत में इन समुदायों के प्रति राज्य और समाज का रवैया अत्यंत निराशाजनक रहा है। अयंगर समिति और रेनके आयोग जैसी विभिन्न समितियों ने इन समुदायों के कल्याण और मुख्यधारा में समावेशन के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें की थीं किंतु इन्हें क्रियान्वित नहीं किया गया। आजादी के बाद जब आदिवासियों और दलितों को संवैधानिक सुरक्षा और आरक्षण का लाभ दिया गया तब विमुक्त जनजातियों को इससे वंचित रखा गया।

परिणामस्वरूप ये समुदाय आज भी सामाजिक भेदभाव, पुलिस उत्पीड़न, आर्थिक विपन्नता और शैक्षणिक पिछड़ेपन से जूझ रहे हैं। 2007 में वैशाली और बैतूल में हुई हिंसक घटनाएँ यह दर्शाती हैं कि समाज में इन समुदायों के प्रति कितनी गहरी घृणा और हिंसा व्याप्त है। न्यायिक व्यवस्था में भी इन समुदायों के साथ भेदभाव होता है और न्याय के

मूलभूत सिद्धांतों का उल्लंघन किया जाता है।

यह शोध अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियों का प्रश्न केवल एक ऐतिहासिक विषय नहीं बल्कि समकालीन भारत में सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों का एक जीवंत मुद्दा है। इन समुदायों को संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करना, उन्हें शैक्षणिक और आर्थिक अवसर देना, पुलिस और न्यायिक तंत्र में सुधार करना और समाज में जागरूकता फैलाना आज की सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए।

भारत जो विविधता में एकता का उद्घोष करता है उसे यह सुनिश्चित करना होगा कि इसकी विविधता में प्रत्येक समुदाय को सम्मान और गरिमा प्राप्त हो। विमुक्त जनजातियाँ भी हमारी सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग हैं और उन्हें मुख्यधारा में शामिल करना न केवल संवैधानिक दायित्व है बल्कि नैतिक अनिवार्यता भी है। केंद्र और राज्य सरकारों को सामूहिक रूप से इस दिशा में ठोस कदम उठाने होंगे ताकि औपनिवेशिक अन्याय की विरासत को अंततः समाप्त किया जा सके और एक समावेशी और न्यायपूर्ण समाज का निर्माण हो सके।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारत सरकार. (1950). भारतीय संविधान. भारत सरकार.
2. भारत सरकार. (1952). भारतीय दंड संहिता अधिनियम. भारत सरकार.
3. भारत सरकार. (1989). अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम. भारत सरकार.
4. भारत सरकार. अयंगर समिति रिपोर्ट. भारत सरकार.
5. ब्रिटिश सरकार. (1773). रेगुलेटिंग एक्ट. ब्रिटिश संसद.
6. ब्रिटिश सरकार. (1793). चार्टर अधिनियम. ब्रिटिश संसद.
7. ब्रिटिश सरकार. (1871). आपराधिक जनजाति अधिनियम. ब्रिटिश भारत सरकार.
8. ब्रिटिश सरकार. (1892). भारतीय परिषद अधिनियम. ब्रिटिश संसद.
9. ब्रिटिश सरकार एवं भारत सरकार. (1883). इल्बर्ट बिल. ब्रिटिश भारत सरकार.
10. कोल, एस. Criminology and the study of criminal tribes in colonial India. Journal of Criminology and Law.
11. मैक्मुन, जी. (1932). द अंडरवर्ल्ड ऑफ इंडिया. ब्रिटिश प्रकाशन.
12. राष्ट्रीय आयोग विमुक्त, घुमंतू और अर्ध-घुमंतू जनजातियाँ. (2008). रेनके आयोग रिपोर्ट. भारत सरकार.
13. रावत, आर. Social exclusion and the Criminal Tribes Act. Journal of Indian History and Social Studies.